

दलित समस्या का प्रारम्भ भारत में वर्ण व्यवस्था की रचना के बाद ही कई हजार वर्ष पूर्व शुरू हुआ। जब भारत की एक बहुत बड़ी जनसंख्या को अति शूद्र, अवर्ण, अस्पृश्य, अछूत कहा गया जिन्हें आज 'दलित' कहा जाता है। इनकी एक अलग दुनिया बना दी गई है। इनको गांव से बाहर बसाया गया है। इनकी शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगा। स्वच्छ कपड़े पहनने और धन एकत्र करने पर रोक लगा दी गयी। काम के बदले इन्हें जूठन खाने और निकृष्ट अन्न दिये जाते थे। उत्तरन और पुराने कपड़े पहनने को दिये गये। इनको समाज की गंदगी उठाने, मरे पशु उठाने, गंदे कपड़े साफ करने जैसे काम दिये गये। जहां से दूसरे लोग पानी पीते थे उन जलाशयों से इन्हें वंचित कर दिया गया। इनमें दलितों के साथ ही अनुसूचित जनजातियां और घुमन्तू जातियां भी सम्मिलित थीं।

अंग्रेजी सत्ता स्थापित होने पर इन सभी लोगों को शिक्षा प्राप्त करने और सरकारी नौकरियों में जाने का द्वार खुला। महात्मा फूले और डा. अम्बेडकर ने इनका पथ प्रदर्शन किया। गांधी जी ने अस्पृश्यता निवारण का आन्दोलन चलाया। उससे कुछ मंदिरों के द्वार इनके लिए खुल गये। किन्तु गांधी जी वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे इसलिए उन्हें इस कार्य में सफलता नहीं मिली। डा. अम्बेडकर ने इस पर कहा था कि

दलितों व शोषितों का पाक्षिक पत्र विज्ञापन के लिए केन्द्रीय सरकार व राज्यों द्वारा स्वीकृत



सम्पादक—डॉ० सोहनपाल सुमनाक्षर

□ वर्ष 56 □ अंक-13 □ दिल्ली □ अप्रैल, 2018 (प्रथम) □ मूल्य : 2 रु.

भारत में दलित उत्पीड़न की अन्तहा

अस्पृश्यता की जड़ जातियां और जातियों की उत्पत्ति वर्ण व्यवस्था से हुई है, इसलिए हिन्दू धर्म में जब तक वर्ण व्यवस्था है हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता बनी रहेगी। दलित जब तक हिन्दू धर्म में रहेगा उसकी अस्पृश्यता भी बनी रहेगी। आज की केन्द्र की सरकार भी दलितों के साथ समरसता की बात कह रही है, उनके साथ वह सहभोज और पर्वों पर नदियों में स्नान करने से वह समरसता आने को कहते हैं किन्तु जब तक हिन्दुओं में जाति प्रथा है तब तक यह समरसता भी एक स्वप्न ही रहेगी।

समाज में समता की भावना पैदा करने के लिए कुछ गैर दलित महापुरुषों

ने भी प्रयास किये हैं, जिनमें बोधानन्द महास्थविर, राहुल सांस्कृत्यायन, चन्द्रिका प्रसाद 'जिज्ञासु' के नाम लिये जा सकते हैं। आज भी दाऊजी गुप्ता और कई लेखक, पत्रकार इस बुराई को दूर करने में लगे हुए हैं। वहीं पर बहुत से दलित साहित्यकार भी समाज में समता, स्वतंत्रता, बन्धुता, लोकतंत्र की स्थापना के लिए लेखन कर रहे हैं। आज हिन्दी में ही नहीं, मराठी, गुजराती, पंजाबी, मलयालम, तेलगू, उड़िया, बंगला और जनजातीय भाषाओं में 'दलित साहित्य' लिखा जा रहा है। हिन्दी में सभी विधाओं में दलित साहित्य उपलब्ध है। दो दर्जन पत्रिकाएं दलित साहित्य पर निकल रही हैं। कुछ दूसरे

डा. माता प्रसाद, पूर्व राज्यपाल

समाचार पत्र भी इसकी महत्ता को प्रतिपादित कर रहे हैं। उन्होंने भी दलित साहित्य पर विशेषांक निकाले हैं। सामाजिक समता के लिए तो दलित साहित्य प्रयत्नशील हैं। इसी के साथ आर्थिक समानता के लिए हरिलाल दुसाध 'डायवर्सिटी' आन्दोलन चला रहे हैं। जिसमें दलितों को सरकारी नौकरियों के साथ ही डीलरशिप, सिनेमा, पत्रकारिता तथा अन्य व्यवसायों में भागीदारी की मांग है।

इसके बावजूद वर्तमान समय में दलितों पर अन्याय, अत्याचार की घटनाएं कम नहीं हो रही हैं। पश्चिमी

उ.प्र., राजस्थान, मध्य प्रदेश में दलितों के दूल्हे विवाह में आज भी घुड़चढ़ी नहीं कर पा रहे हैं। दलित उत्पीड़न की घटनाएं बराबर हो रही हैं। जनवरी 2016 में हैदराबाद यूनिवर्सिटी के दलित छात्र रोहित वेमुला का यूनिवर्सिटी से निष्कासन और यूनिवर्सिटी द्वारा छात्रवृत्ति न देने पर आत्महत्या करने की घटना, अप्रैल 2016 ई. में केरल के पेरम्बदूर में दलित छात्रा की उसके घर में रेप करके उसकी हत्या करना, जुलाई 2017 ई. में गुजरात के ऊना गांव में कथित गोरक्षकों द्वारा मरी गाय का चमड़ा निकालते समय उनकी लाठियों से पिटाई करना, 2017 ई. में सहानपुर में राणा प्रताप जयन्ती के समय दलितों की बस्तियों में आगजनी, जनवरी 2018 ई. में पुणे के कोरे गांव में शहीद दलितों को श्रद्धांजलि देने के अवसर पर उन पर पत्थरबाजी करना मेरठ और प्रदेश के दूसरे भागों में डा. अम्बेडकर की मूर्तियों को तोड़ना, दलितों के असंतोष में वृद्धि कर रहा है।

देश की दलित महिलाओं के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ की हाल ही में एक रिपोर्ट 'टर्निंग प्रामिसेस इनटू एक्शन—जेंडर इक्विटी इन 2030' एजेंडा नामक एक रिपोर्ट आयी है। इसके अनुसार देश में दलित वर्ग की महिलाओं की औसत उम्र ऊंची जाति

(शेष पृष्ठ 4 पर)

दलितों के अधिकारों पर कुठाराघात

देश में जाति के आधार पर सामाजिक भेदभाव के बर्ताव के खिलाफ अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लोगों को संरक्षण देने के लिए अनुसूचित जाति-अनुसूचित जन जाति (अत्याचार निवारण) एक्ट-1989 बाकायदा कानूनी व्यवस्था है। इस एस सी/एस टी कानून के मुताबिक जाति आधार पर भेदभाव, अपमान, दुराचार करने के दोषी को तुरन्त गिरफ्तार कर लिया जाता है और फिर उसकी जमानत भी नहीं होती। दलितों को सम्बल के रूप में यह एक 'ब्रह्मस्त्र' मिला हुआ था जिसके आगे सवर्ण समाज का कोई भी व्यक्ति जाति आधार पर दलितों के साथ भेदभाव व अत्याचार करने से कतराता था पर अब सुप्रीम कोर्ट ने महाराष्ट्र के एक मामले की सुनाई के बाद व्यवस्था दी है कि अनुसूचित जाति-अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) कानून के दुरुपयोग की शिकायतों के मद्देनजर अब ऐसे मामलों में गिरफ्तारी से पहले जांच जरूरी होगी और आरोपी को अग्रिम जमानत भी दी जा सकती है। मामला दर्ज करने से पहले उसके सही होने के आधार के बारे में 'डी.एस.पी.' स्तर का पुलिस अधिकारी प्रारम्भिक जांच करेगा। यही नहीं, अगर आरोपी सरकारी अफसर

है तो उसकी गिरफ्तारी से पहले उसके उच्च अधिकारी से अनुमति लेना जरूरी होगा।

पिछले साल महाराष्ट्र के कुछ संगठनों ने अनुसूचित जाति-अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) कानून-1989 के बड़े पैमाने पर दुरुपयोग का दावा किया था। पर महाराष्ट्र पुलिस का विस्तृत आंकड़ों के आधार पर सरकार को सूचित किया था कि यह कानून दलित समुदाय के अधिकारों की रक्षा करता है और इसका बेजा इस्तेमाल नहीं हो रहा है। पुलिस ने अपनी एक अन्य रिपोर्ट में यह भी बताया था कि ऐसे ज्यादातर आरोपियों के बरी होने का कारण गवाह का अपने बयान से पलट जाना होता है। इसमें कोई शक नहीं है कि अगर किसी मुकदमे में गवाह अपने बयान पर कायम नहीं रह पाता और आरोपी बरी हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति को कानून के दुरुपयोग का मामला कहा जा सकता है। पर दूसरी ओर यह भी देखना जरूरी है कि समाज में हाशिये पर जीने वाले दलित-वंचित समुदायों की सामाजिक हैसियत क्या होती है और उनके सामने अपने दमन-शोषण-

उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठाने के क्या विकल्प होते हैं। उन्हें चुप कराने के लिए आज भी समाज की वर्चस्वशाली सवर्ण जातियों के लोग किन किन तौर-तरीकों का इस्तेमाल करते हैं और अपराधी को बरी कराने के लिए किस प्रकार का गवाहों पर दबाव डालते हैं। दलितों के गवाह भी बेबस, लाचार, गरीब, बेसहारा होते हैं। वे उन लठैतों के सामने झुकने को मजबूर हो जाते हैं। इससे उन आरोपी दमनकारियों के हौंसले और बढ़ जाते हैं, और फिर अपने अपमान का बदला लेने के लिए वे साम-दाम-दंड-भेद का इस्तेमाल करते हुए अपना दमन चक्र और तेज कर देते हैं। दलितों की मां-बेटी-बहू के साथ बलात्कार करके, उनकी इज्जत लूटना-विरोध करने पर जान से मार देना, उनके घरों को लूटना व जलाना, उनके युवाओं के साथ मारपीट करके उन्हें जान से मार देना, उनका बायकाट करके खेतों पर जाने से रोकना और उन्हें गांव छोड़ने पर मजबूर कर देना। उनको रोजी-रोटी के लिए मोहताज कर देना। इस जघन्य अन्याय में

(शेष पृष्ठ 3 पर)

भारतीय दलित साहित्य अकादमी प्रकाशन

विश्व धरातल पर दलित साहित्य	डॉ. सुमनाक्षर	50/-
अंधा समाज और बहरे लोग	डॉ. सुमनाक्षर	60/-
शिन्धु घाटी बोल उठी	डॉ. सुमनाक्षर	50/-
अब नहीं रहेंगे हाशिये पर	डॉ. सुमनाक्षर	80/-
अम्बेडकर शतक	डॉ. सुमनाक्षर	50/-
विश्व विभूति डा. अम्बेडकर	डॉ. सुमनाक्षर	50/-
दलित लेखक परिचय ग्रंथ (अंग्रेजी)	डॉ. सुमनाक्षर	250/-
बुद्धा दू अम्बेडकर (अंग्रेजी)	डॉ. सुमनाक्षर	150/-
दलित साहित्य	डॉ. सुमनाक्षर	100/-
अम्बेडकर दर्शन	डॉ. सुमनाक्षर	40/-
हमारे संत और समाज सुधारक	डॉ. सुमनाक्षर	60/-
धर्म और समाज	डॉ. सुमनाक्षर	40/-
आदिम जाति चमारा	डॉ. सुमनाक्षर	300/-
(इतिहास, धर्म, संस्कृति)		
दलित उद्घोष	डा. सुमनाक्षर	80/-
दलित साहित्य की हुंकार-सात सम्बन्ध पर	डॉ. सुमनाक्षर	100/-
युगपुरुष बाबू जगजीवनराम	डॉ. सुमनाक्षर	200/-
प्राचीन आदिम जाति वाल्मीकि	डॉ. सुमनाक्षर	100/-
(इतिहास, धर्म, संस्कृति)		
सभ्यता, संस्कृति, समाज और साहित्य	आचार्य गुरुप्रसाद	100/-
डा. अम्बेडकर भजनावली	राजमल 'राज'	25/-
हमारे दलित गौरव	राजमल 'राज'	25/-
भारत रत्न डा. बी.आर. अम्बेडकर	राजमल 'राज'	25/-
मूल भारती से दलित	राजमल 'राज'	50/-
अम्बेडकरवाद बनाम सामाजिक परिवर्तन	राजमल 'राज'	80/-
दलित साहित्य-दशा और दिशा	डा. माता प्रसाद	200/-
दलित साहित्य से सामाजिक परिवर्तन	डा. माता प्रसाद	100/-
भारत की गुलामी के 22 सौ साल	प्रदीप कुमार मौर्य	250/-
सृजन के कण	जीपी पचौरिया 'दीप'	150/-
बौद्ध धर्म-गया से अयोध्या तक	प्रदीप कुमार मौर्य	120/-
गांधी, अम्बेडकर और दलित	प्रदीप कुमार मौर्य	100/-
सत्सम दर्शन	राजमल 'राज'	100/-
जागा मेहनतकश इंसान	राजमल 'राज'	50/-
हम एक हैं	डा. माता प्रसाद	60/-
रैदास से संत शिरोमणि गुरु रविदास	डा. माता प्रसाद	50/-
ताकि सन्द रहे	डा. सुमनाक्षर	100/-

पुस्तक मंगाने के लिए मनीआर्डर से राशि अग्रिम भेजें, व्यवस्थापक,

दलित साहित्य सेन्टर

(भारतीय दलित साहित्य अकादमी)

बी-3/9, दूसरी मंजिल, माडल टाउन-1, दिल्ली-9

फोन : 27421449, 27421460, मो. 9810278936



आंदोलन विहीन समय में साहित्य

• दिनेश कुमार

साहित्य को गति और दिशा देने में साहित्यिक आंदोलनों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आंदोलन न सिर्फ साहित्य में आए गतिरोध को दूर करता है, बल्कि वह उसे युग संदर्भों से जोड़ कर समय और समाज की केंद्रीय संवेदना का वाहक भी बनाता है। समाज की तरह ही साहित्य में भी आंदोलनों का न होना एक तरह से जड़ता का द्योतक है। जीवंत समाज और जीवंत साहित्य दोनों के लिए आंदोलनधर्मिता आवश्यक है। पर दुखद यह है कि हिंदी समाज और हिंदी साहित्य दोनों में ही आंदोलनधर्मिता लगभग समाप्त हो गई है।

तो क्या साहित्यिक आंदोलनों के खत्म होने को समाज में आंदोलनों की अनुपस्थिति से जोड़ा जा सकता है? प्रायः ऐसा जोड़कर देखा जाता है, पर यह साहित्य और समाज के संबंधों को अति सरलीकरण है। साहित्यिक आंदोलनों का अपने समाज से प्रत्यक्ष रिश्ता होता भी है और नहीं भी। साहित्य समाज से बिंब-प्रतिबिंब जैसा रिश्ता नहीं होता है। साहित्य समाज से निरपेक्ष नहीं होता, तो वह उससे पूरी तरह नाभि-नाल-बद्ध भी नहीं होता। साहित्य और समाज के बीच सापेक्ष स्वायत्तता

का संबंध होता है। यह हमेशा जरूरी नहीं कि साहित्य की विकास प्रक्रिया समाज की विकास प्रक्रिया के अनुरूप हो। साहित्य की विकास प्रक्रिया के अपने आंतरिक कारण भी होते हैं। इसलिए साहित्य में हुए परिवर्तनों को समाज में आए परिवर्तनों से हमेशा व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रचंड दौर में छायावाद का उदय साहित्य के आंतरिक कारणों से अधिक हुआ। प्रगतिवाद को समाज में आए परिवर्तनों से जोड़ा जा सकता है, तो प्रयोगवाद के रूप में हुए परिवर्तन के लिए साहित्य के आंतरिक कारण जिम्मेदार थे। साहित्य की विषय-वस्तु और रूप में परिवर्तन कभी समाज-सापेक्ष होता है तो कभी समाज निरपेक्ष भी। साहित्यिक आंदोलन से समाज की अनुकूलता हमेशा आवश्यक नहीं है। प्रगतिशील आंदोलन बीसवीं सदी का सबसे विराट साहित्यिक आंदोलन था। 1936 में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ के साथ मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी सभी तरह के लेखक जुड़े। इस संगठन का स्वरूप अखिल भारतीय था और दूसरी भाषाओं तक इसका विस्तार था। पर बहुत जल्दी ही यह संगठन

संकीर्णतावाद का शिकार हो गया और लेखक संघ कम्युनिस्ट पार्टी के साहित्यिक मोर्चे के रूप में काम करने लगा। 1953 में प्रगतिशील लेखक संघ एक संगठन के रूप में लगभग विघटित हो गया। संगठन तो विघटित हो गया, पर प्रगतिशील आंदोलन ने देश भर के साहित्यकारों में जो प्रगतिशील चेतना विकसित करने का व्यापक काम किया था, उसका असर बहुत लंबे समय तक रहा। लोग छोटे-छोटे शहरों में अपने तरीके से काम करते रहे। बाद में इस संगठन को फिर से पुनर्जीवित किया गया। आगे चल कर जनवादी लेखक संघ और जन संस्कृति मंच जैसे दो और लेखक संगठन दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों क्रमशः माकपा और भाकपा (माले) से जुड़े हुए अस्तित्व में आए। इस तरह तीन कम्युनिस्ट पार्टियां बनीं तो तीन लेखक संगठन भी बन गए। इन तीनों संगठनों ने अपने-अपने तरीके से साहित्य को प्रगतिशील आंदोलन की चेतना से जोड़े रखने में भूमिका निभाई। हिंदी साहित्य को प्रगतिशील आंदोलन की चेतना से जोड़े रखने में भूमिका निभाई। हिंदी साहित्य का मूल चरित्र अब भी जनपक्षधर, बाजार विरोधी और गैर-सांप्रदायिक बना हुआ है तो इसमें

इन संगठनों की भी बड़ी भूमिका है। पर आज ये तीनों संगठन साहित्य के संदर्भ में लगभग अप्रासंगिक हो चुके हैं। कोई भी नया लेखक इन संगठनों से नहीं जुड़ रहा है। विराट प्रगतिशील आंदोलन धीरे-धीरे इतिहास की वस्तु बनने की ओर अग्रसर है। इसका असर हिंदी साहित्य पर भी दिखना शुरू हो गया है।

प्रगतिशील आंदोलन की सबसे बड़ी समस्या पार्टीबद्धता रही। अगर यह आंदोलन कम्युनिस्ट पार्टी से स्वतंत्र साहित्य का आंदोलन होता, तो यह आज भी संदर्भवान होता। भारतीय राजनीति में कम्युनिस्ट पार्टियों के हाशिए पर चले जाने के कारण लेखक संगठन भी हाशिए पर चले गए और साहित्य में प्रगतिशील चेतना की चमक भी फीकी पड़ने लगी। हिंदी साहित्य में मुख्य रूप से एक ही विराट साहित्यिक आंदोलन था और वह था प्रगतिशील आंदोलन। दुर्भाग्य से इस आंदोलन की रस्सी राजनीति से बंधी हुई थी और जैसे ही वह राजनीति संकटग्रत हुई यह आंदोलन भी संकटग्रस्त हो गया। प्रगतिशील आंदोलन के समानांतर

कहानियां कहने वाले भी हैं। शिल्प के स्तर पर भी पर्याप्त विविधता है। स्त्री लेखन और पुरुष लेखन को भी इस लेखन में भी कोई सामान्य प्रवृत्ति या एकरूपता नहीं है। साहित्य के इतिहास में यह शायद पहली बार है कि इतनी अधिक संख्या में रचनाकार एक साथ सक्रिय हैं और उन्हें किसी एक व्यापक पहचान के अंतर्गत सम्मिलित नहीं किया जा सकता। उन्हें न तो नई कहानी, अकहानी, समांतर कहानी, जनवादी कहानी आदि जैसी किसी नई साहित्यिक प्रवृत्ति के अंतर्गत रखा जा सकता है और न ही उनका नामकरण किसी पीढ़ी जैसी बात है और न विचारधारा की। किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति का अनुसरण करने का तो सवाल ही नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में यह बहुलता का दौर है। यह शायद सबसे लोकतांत्रिक दौर है जब लेखक के क्षेत्र में किसी तरह का कोई बंधन या दबाव नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में यह अभूतपूर्व है।

अतिशय लोकतांत्रिक जहां सृजनात्मकता के लिए बहुत ऊर्ध्वरकर होता है वही अगर लेखक के पास दृष्टि न हो तो यह बहुत संभव है कि उसका लेखन पतनशील प्रवृत्तियों का

पूर्व राज्यपाल डॉ. माता प्रसाद जी को मिला जुगल किशोर स्मृति सम्मान

फिल्म अभिनेता, नाट्य निर्देशक प्रेक्षागृह, लखनऊ में हुए सम्मान एवं लेखक स्वर्गीय जुगल किशोर की समारोह में पूर्व राज्यपाल, डॉ. माता याद में दिया जाने वाला तीसरा जुगल प्रसाद को वरिष्ठ रंग निर्देशक पद्मश्री किशोर स्मृति पुरस्कार इस साल पूर्व राज बिसारिया ने जुगल किशोर स्मृति राज्यपाल एवं नाटककार डॉ. माता सम्मान से नवाजा। पुरस्कार स्वरूप प्रसाद जी को दिया गया। अलग दुनिया 25 हजार रुपय की धनराशि, अंगवस्त्र, संस्था की ओर से इस पुरस्कार की प्रशस्ति पत्र एवं स्मृति चिन्ह प्रदान शुरुआत जुगल किशोर के निधन के बाद की गई थी।

तीस से अधिक दलित राजनीति, साहित्यकार लेखक डॉ. माता प्रसाद साहित्यिक सांस्कृतिक मुद्दों पर पुस्तकें लिखने वाले डॉ. माता प्रसाद, पूर्व ने कहा कि दलितों पर अत्याचार कभी कम नहीं हुए। आज भी दलितों पर राज्यपाल का इस पुरस्कार के लिए निरंतर अत्याचार हो रहे हैं। जब चयन किया गया। कैफ़ी आजमी अत्याचार होते रहेंगे, मैं लेखन के होता है। •

माध्यम से दलितों की आवाज उठाता रहूंगा। उनहोंने कहा कि दलितों पर होने वाले अत्याचारों को केन्द्र में रखकर ही मैंने नाटक लिखे हैं। समारोह में वरिष्ठ रंगकर्मी राज बिसारिया ने कहा कि लखनऊ में देखने लायक अच्छे नाटक न के बराबर हैं।

उन्होंने कहा कि नाटक सीधे समाज को जोड़ने का काम करता है। संयोजक एवं अलग दुनिया के महासचिव ने कहा कि इस सम्मान की जरूरत इसलिए थी क्योंकि मनोरंजन या पैसा कमाना कला का लक्ष्य नहीं होता है। •

बदल डालो-बदल डालो

जितनी जल्दी हो सके बदल डालो, तुम अपने इन शोषक षड्यंत्रों और इन युद्ध कथाओं को, भारत के इन शांतिप्रिय, मूल निवासी लोगों की- हत्याओं को, हारों को और दलन व्यथाओं को। अब ये वरना वेद, पुराणों पर भी तर्क करेंगे, अब ये इन भय, भ्रम की कथाओं से ना डरेंगे, भाग्य भरोसे अब ना रहेंगे, हार ना मानेंगे, हर अत्याचारों के विरुद्ध अब ये स्वयं लड़ेंगे। चाहे अब इनको करार दे दो कोई वादी जेल भी अब ना रोक सकेगी इनके पांवों को। अब ये समझ गये हैं कानूनी भ्रमजालों को, साम, दाम, दण्ड, भेद और शोषण के हथियारों को, अब पहचान गये हैं वे छुपे हुये गद्दारों को,

इसीलिये ललकार रहे हैं, मारों सालों को। तीर नहीं अब वे सीधे ही गोली मारेंगे, छेड़ा यदि तुमने अब उनकी बहिनों, माँओं को। अब वे अपने हक के लिये लड़ना सीख गये हैं, घुटकर जीने से बेहतर मरना सीख गये हैं, अब वे स्वयं ही 'अपना दीपक आप बनने' अब वे शेरों जैसा गर्जना सीख गये हैं। उन्हें डराओं नहीं, मनाओ और भरोसा दो, लंका जैसे मत सुलगाओ, उनकी गुफाओं को। जितली जल्दी हो सके बदल डालो, तुम अपने इन शोषक षड्यंत्रों और ये युद्ध कथाओं को।

— भरत सिंह 'बचैन'

हिंदी में कोई साहित्यिक आंदोलन शिकार होकर अराजक हो जाए। कुछ खड़ा ही नहीं हो पाया। ऐसा नहीं कि रचनाकारों में ऐसी प्रवृत्तियां घर कर रही हैं। साहित्य के लोकतांत्रिक परिवेश का फायदा उठा कर कुछ अराजक किस्म का गैर-साहित्यिक लेखन, प्रगतिशील आंदोलन से बाहर रहे लेखकों में साहित्यिक उत्कृष्टता की क्षमता नहीं थी, जो प्रगतिशील आंदोलन को चुनौती दे सके। इसलिए अपनी तमाम सीमाओं और संकीर्णताओं के बावजूद हिंदी में प्रगतिशील आंदोलन ही एकमात्र आंदोलन बना रहा। आज इस आंदोलन के समाप्तप्राय होते ही ऐसा लगना स्वाभाविक है कि साहित्य से आंदोलनधर्मिता समाप्त हो गई है। आंदोलनधर्मिता का समाप्त होजाना संकट तो है ही, पर यह एक अवसर भी है—दलगत राजनीति से अलग साहित्य के स्वधर्म को पहचानते हुए एक वैकल्पिक आंदोलनधर्मिता विकसित करने का। बाजार और सत्ता का जो सुनियोजित हमला आज साहित्य पर हो रहा है, उसके लिए नए तरह की आंदोलनधर्मिता की जरूरत है।

सन दो हजार के बाद साहित्य का परिदृश्य बहुत कुछ बदला है। लेखन में कोई भी ऐसी प्रधान प्रवृत्ति नहीं, जिसके आधार पर इस दौर का कोई नामकरण किया जाए। इस दौर में हर तरह की रचनात्मक प्रवृत्तियां मौजूद हैं। गांव पर लिखने वाले भी हैं और शहर पर भी। उच्चवर्गीय जीवन पर लिखने वाले भी हैं और निम्नवर्गीय जीवन पर भी। कस्बाई परिवेश पर लिखने वाले हैं तो पिछड़े अंचल की

शिकार होकर अराजक हो जाए। कुछ रचनाकारों में ऐसी प्रवृत्तियां घर कर रही हैं। साहित्य के लोकतांत्रिक परिवेश का फायदा उठा कर कुछ अराजक किस्म का गैर-साहित्यिक लेखन, साहित्य में प्रवेश करने लगा है। इसके पहले कि साहित्य का वर्तमान अतिशय लोकतांत्रिक परिवेश अराजकता का शिकार हो, लेखक संगठनों से अलग एक नई आंदोलनधर्मिता विकसित कर लेनी होगी। साहित्य की सामाजिक सार्थकता के साथ-साथ उसके स्वत्व को लेकर एक सचेत आंदोलन की जरूरत है। एक ऐसा सचेत आंदोलन, जो साहित्य के अस्तित्व और अस्मिता दोनों को महत्त्व देता हो और जिसकी प्रतिबद्धता सिर्फ साहित्य के प्रति हो तथा जो साहित्य को समाज में प्रतिष्ठा दिलाने के लिए प्रयत्नशील हो। •

हिमायती हिन्दी पाक्षिक पत्र

अम्बेडकर मिशन का प्रतिनिधि पत्र है। इसे मंगाइये, पढ़िए और दूसरों को पढ़ाइये। इससे जन चेतना जागृत होगी और दलित संघर्ष तीव्र होगा। इसका सहयोग वार्षिक शुल्क 100/- और आजीवन 1000/- मनीआर्डर से आज ही भेजें—

सम्पादक : हिमायती
बी 3/9, दूसरी मंजिल,
माडल टाउन-1, दिल्ली-9

भारतीय संविधान और दलित समाज

• रत्न चंद रोझे

भारत रत्न डॉ. बाबा साहब भीम राव अम्बेडकर ने भारतीय संविधान में अधिकार व सुविधाएं दीं व सुविधाएं लोगों को मिली जरूर पर जो अत्यंत पिछड़े, शोषित व शिकार हैं, वह आज भी पहले की तरह अपना जीवन जी रहे हैं। हमारे सत्ताधारी संविधान में दिए गए अधिकारों का लाभ तो उठा रहे हैं परंतु उनका ध्यान अपने इन उपेक्षित, अन्याय सहने वाले दलित आदिवासी पिछड़े लोगों की ओर कम ही जाता है जिसके कारण इनके लिए बनी अनेक योजनाओं का लाभ आजादी के 70 साल बाद भी अभी तक इनको नहीं मिला। दलित समाज के प्रति लोगों का मनोबल और सोच अभी तक नहीं बदली।

1. दलित शोषित सुयोग्य, प्रशिक्षित उपलब्ध है परंतु उनकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता। वह बेकारी का जीवन जी रही हैं। कई तो मजदूरी करके अपने परिवार का पालन पोषण कर रहे हैं।

2. 24 सितम्बर, 1932 को यरवदा जेल पुणे में महात्मा गांधी जी व भारत रत्न बाबा साहब भीम डॉ. राव अम्बेडकर के साथ जो समझौते पर हस्ताक्षर

करने वाले समाज के शक्तिशाली व प्रभावशाली व्यक्ति सभी हिन्दू थे। फिर उनके अगली संतानों ने उस समझौते की ओर क्यों नहीं ध्यान दिया?

3. अनुसूचित जाति व जनजाति का पूरा बजट इन लोगों के लिए खर्च नहीं किया जाता और जो किया जाता है उससे इस समाज को कम लाभ मिलता है।

4. यह बजट अंत में अन्य योजनाओं में परिवर्तित कर दिया जाता है। इसके अनेक उदाहरण हैं।

5. आज भी छुआछूत है। वाल्मीकि समाज सिर पर मैला ढो रहा है। उनकी व दलित बस्तियों की हालात देखने लायक है।

6. सरकारी नौकरियों ने दलित पिछड़े व आदिवासियों की पूरी भागीदारी नहीं होती संविधान में 85वां संशोधन पर सुप्रीम कोर्ट को निर्णय होने पर भी अभी तक लागू नहीं किया गया। आरक्षण की पूर्ति नहीं हुई। परंतु इसका विरोध शुरू हो गया।

7. अनेक स्थानों पर दलित, पिछड़े व आदिवासी लोग मकान बना कर रह रहे हैं और भूमि काबिले काश्त करके अपने परिवारों का पालने कर रहे हैं।

दुर्भाग्य की बात है कि वह भूमि इनके नाम नहीं है और इनको बार-बार नोटिस देकर भयभीत किया जाता है।

8. चुनाव के समय सभी राजनीतिक पार्टियां अपने एजेंडे में लुभावनी वायदे करती है, परंतु सत्ता में आने पर टांग टांग फिस हो जाता है। अभी अभी हिमाचल प्रदेश में चुनाव में अच्छे लोग आये हैं देखना यह है कि यह गरीबों के लिए क्या करते हैं।

9. 1990 में वैश्वीकरण और उदारीकरण के नाम पर उन सभी सरकारी उपकर्मों को प्राईवेट व राष्ट्रीय कम्पनियों को बेच दिया जिसके कारण आरक्षण कोटे का वह प्रावधान भी समाप्त हो जाता है और दलित आदिवासी और पिछड़े लोग इस सुविधा से वंचित हो गये हैं।

10. शिक्षण संस्थानों का निजीकरण कर दिया गया। शिक्षा मंहगी हो गई। फिर दलित आदिवासी पिछड़े बच्चों को शिक्षा कहाँ से मिलेगी?

11. दलित आदिवासियों को आजादी के 70 साल बाद भी रोटी के लिए व रहने के लिए व जीवन बसर

करने के लिए वह सुविधा अभी तक नहीं मिली जो मिलनी चाहिए थी और जो पूना पैक्ट में शपथ ली गई थी वह अभी तक पूरी नहीं हुई। चुनाव के समय इसी समाज के लोग अधिक वोट डालने जाते हैं गर्मी हो या बरसात या सर्दी से। समाज के अन्य लोग अपनी सुविधा के अनुसार वोट डालते हैं।

12. संविधान को बदलने के बात बार बार की जाती है। बाबा साहब डॉ. भीम राव अम्बेडकर ने भारतीय संविधान की प्रस्तावना में इन शब्दों को वर्णित किया था—

“हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र गणतंत्र बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा, अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता व अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बनाने के लिए दृढ़ संकल्प लेकर इस संविधान सभा में 26 नवम्बर, 1949 को इस संविधान

को अंगीकृत, अभीनिर्मित, आत्मार्पित करते हैं।” क्या हम इसे भूल गए?

अभी जनवरी में महाराष्ट्र में जो कुछ हुआ क्या वह उपरोक्त संविधान में दिए गए अधिकारों के प्रति उल्लंघन नहीं है? चुनाव के समय इन लोगों को पार्टियों के सभी लोग लुभावने नारे लगाकर वोट मांगने आते हैं और बाद में इनके वादों पर कोई अमल नहीं किया जाता।

दलित समाज में व सवर्ण समाज में उदारवादी लोग भी है परंतु न जाने क्यों गरीबों पर अन्याय के समय चुप रहते हैं। आज भी अनेक स्थानों पर दलितों के साथ भेदभाव अपमानजनक व्यवहार किया जाता है पुलिस भी इस पर कार्यवाही करने से हिचकिचाती है।

आवश्यकता है बुद्धिजीवी, सत्ता में बैठे अधिकारी व सामाजिक कार्यकर्ता सभी मिलकर समाज के इस उपेक्षित परिवारों को ऊपर उठाने के लिए उनके साथ किए जाने वाले अन्याय के प्रति जागरूक हों और इन्हें न्याय दिलायें।

•

सम्पादकीय का शेष...दलितों के अधिकारों पर कुठाराघात

शामिल सवर्ण—उच्च वर्ण का पूरा का पूरा ढांचा है। गांव पंचायतों से लेकर थाना, कोर्ट, कचेहरी तक वर्चस्वधारी सवर्ण अधिकारियों का कब्जा है। दलित व्यक्ति को अगर कानून का संरक्षण नहीं मिलेगा तो वह कहां—कहां, किस—किस से लड़ता फिरेगा, बिना धन—दौलत के थाना—कोर्ट—कचेहरी में कैसे न्यायपूर्ण जीत हासिल कर पायेगा? माननीय सर्वोच्च न्यायालय को इस सामाजिक विषमता से मारे समाज के हाशिये पर दीनहीन—असहाय पड़े दलित—वंचित समुदाय को दृष्टि में रखकर कोई कदम उठाया चाहिए था।

अभी 20 मार्च, 2018 को सरकार ने लोकसभा में बताया कि अकेले 2016 में देशभर में दलितों के खिलाफ भेदभाव और अपमान से जुड़े 40714 मामले दर्ज किये गये हैं। इसके अलावा तीन महीने पहले जारी हुए राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के आंकड़ों के अनुसार 2015 के मुकाबले 2016 में दलित अत्याचार और अपराध के मामलों में साढ़े पांच फीसदी (5.5 प्रतिशत) की बढ़ोतरी हुई है। और दूसरी ओर सच्चाई यह भी है कि सामाजिक विकास और कमजोर दलितों के बीच सशक्तिकरण की प्रक्रिया धीमी या आधी—अधूरी होने के कारण आज भी जातिगत अपराधों की काफी

शिकायतें सामने नहीं आ पातीं। थाना—कचेहरी में बैठे सवर्ण अधिकारी पहले तो उनकी शिकायत सुनने को तैयार नहीं होते, अगर किसी दबाव में रिपोर्ट लिखते भी हैं तो वे उस पर कमजोर धारायें लगाते हुए शुरू में मुकदमे को कमजोर बना देते हैं। गवाहों की गवाही भी तोड़—मरोड़ कर लिख ली जाती है जो आगे अदालत में आरोपी को बरी होने में मदद करती है।

संविधान में मिले समानता के अधिकारों, विशेष अवसर के प्रावधानों और राजनीतिक जागरूकता ने दलितों में अपने हितों के लिए एकजुट होने और लड़ने में अहम भूमिका निभाई है। प्रशासन और शैक्षिक संस्थानों से लेकर जीवन के अनेक क्षेत्रों में आज दलितों की उपस्थिति किसी हद तक चारों ओर दिखाई पड़ती है पर अभी भी दलितों की एक बहुत बड़ी आबादी सवर्णों के उस अपमान और उत्पीड़न को झेल रही है, जिसे वह सदियों से झेलती आई है। पर पिछले कुछ सालों से बढ़ती जागरूकता के बीच दलित लोग अब अपने साथ हुए अन्याय के खिलाफ संवैधानिक अधिकारों और कानूनों का सहारा लेने के लिए आगे आने लगे हैं, और वे अब किसी तरह का जातिगत भेदभाव, अपमान, उत्पीड़न सहने के लिए तैयार नहीं। पर उच्च

जाति के दबंग, सवर्ण उनके इस उभार को बर्दाश्त करके चुप बैठने की बजाय उन पर लाठी, डंडे, बन्दूक से सीधे हमले करते हैं और मरने—मारने से भी पीछे नहीं हटते।

गुजरात में गत वर्ष 'ऊना कांड' ने देश का ध्यान खींचा था जहां मरी गाय की खाल उतारने पर पांच दलित युवाओं को बड़ी बेरहमी से पीट—पीट कर अधमरा कर दिया था। इसी गुजरात के आणंद जिले के भद्रानिया गांव में गरबा डांस के आयोजन में शामिल होने पर एक दलित युवक को सवर्ण जात के लोगों ने पीट—पीट कर मार डाला। गांधी नगर के पास एक गांव में दो दलितों की सवर्ण जाति के लोगों ने इसलिए पिटाई कर दी उन्होंने उन जैसी मूछ रखी हुई थी। आज भी राजस्थान, मध्य प्रदेश, पश्चिम उत्तर प्रदेश में दलितों के दुल्हे विवाह में घुड़चढ़ी करके बारात नहीं निकाल सकते। कई राज्यों में दलित सरपंच को स्वतंत्रता दिवस पर झंडा नहीं फहराने दिया गया।

हरियाणा में गुहाना, मिर्चपुर में सवर्णों ने दलितों के घरों को आग लगा दी क्योंकि वे उनकी बराबरी करने लगे थे, झज्जर जिले में पांच दलितों को ऊंची जाति के लोगों ने मरी गायों की खाल निकालते हुए जाने से मार डाला।

सहारनपुर (उ.प्र.) में गत वर्ष राणा प्रताप जयन्ती के समय वहां के राजपूतों ने दलितों के घरों को जला दिया। पुणे के कोरे गांव में अपने शहीदों को श्रद्धांजलि देने आये दलितों पर सवर्णों ने पत्थरबाजी और हमले किये। मेरठ में डा. अम्बेडकर और चेन्नई में रामासामी पेरियार की सवर्णों ने मूर्तियां तोड़कर दलितों से बदला लिया। इस तरह देश में सवर्ण व दलितों में अपने अपने वर्चस्व की लड़ाई की घटनायें घटती रहती है। दलितों का संघर्ष संविधान द्वारा उन्हें प्रदत्त समता, स्वतंत्रता, न्याय व बन्धुता के अधिकार पाने के लिए होता है। वहीं वर्चस्ववादी, सवर्ण अपने ऊंच जातिगत सम्मान को किसी भी कीमत पर छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। इसीलिए वे अपनी दबंगई से दलितों को आज भी अपने पैरों के नीचे दबाकर रखना चाहते हैं इसीलिए वे उन पर हर तरह के जुल्म ढाते रहते हैं।

अनुसूचित जाति—अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) कानून—1989 दलितों को सवर्ण—वर्चस्ववादी ऊंची जाति की दबंगई अपमान, उत्पीड़न से संरक्षण प्रदान करने के लिए बनाया गया था और उससे दलितों को सवर्णों के अन्याय, उत्पीड़न, अपमान, बर्बरता से काफी हद तक संरक्षण मिला था, पर अब सुप्रीम कोर्ट

के इस आदेश से दलितों का गांवों में जीना दूभर हो जायेगा क्योंकि उनकी उत्पीड़न—अन्याय—अपमान की शिकायत ही कानूनी प्रक्रिया के चक्कर में पड़ जायेगी, उल्टे उन्हें मुकदमा दर्ज न होने पर अपमानित और जलील होना पड़ेगा। यह सर्वविदित है कि पंचायत थाना, कोर्ट—कचेहरी में सभी जगह उच्च जातियों का दबदबा है। वहां बैठे सवर्ण जातिवाद अधिकारी अपनी ही जाति के सवर्ण व्यक्ति के खिलाफ कैसे मुकदमा दर्ज करेंगे? वे तो उल्टे उस शिकायतकर्ता पर आरोप लगाकर झूठा मुकदमा लिखवाकर जेल की हवा खिला देंगे, फिर कोई उसकी पैरवी करने भी आगे नहीं आयेगा।

ऐसे में देश की सबसे ऊंची अदालत सुप्रीम कोर्ट से हमारा विनम्र निवेदन है कि वह उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखकर अनुसूचित जाति—अनुसूचित जनजाति (अपराध निवारण) कानून—1989 की पुनर्वीक्षा करने की कृपा करे ताकि इस कानून के दुरुपयोग की रोकथाम करते दलित—वंचित जातियों और समुदायों के लोगों को न्याय मिलने में कोई अड़चन पैदा न हो सके, और बाबा साहब डा. अम्बेडकर ने दलितों को राष्ट्र की मुख्यधारा में लाने के लिए जो समता, स्वतंत्रता, न्याय, बन्धुता के संवैधानिक मौलिक, अधिकार दिये हैं, उनकी रक्षा हो सके।

शिक्षा, शिक्षक और समाज

● कारूलाल जमड़ा

पिछले दिनों एक समाचार के शीर्षक ने सभी का ध्यान आकर्षित किया—'देश में डेढ़ लाख शिक्षक स्कूल नहीं जाते।' इस समाचार के चलते शिक्षकों की साख पर बट्टा लगा। यह अलग बात है कि कुछ समय पहले, शिक्षा के क्षेत्र में प्रतिष्ठित एक एनजीओ ने अपनी विस्तृत शोध-रिपोर्ट में इसके ठीक विपरीत स्थिति बयान की थी और शिक्षकों की अनुपस्थिति का कारण उनका शैक्षणिक काम से ही अन्यत्र जाना बताया था। यहां समाचार की सच्चाई की पड़ताल करना उद्देश्य नहीं है। पर यह जानना जरूरी है कि पूरे देश में सरकारी स्कूलों के निजीकरण की सुगबुगाहट क्यों बनी हुई है? और इसका सारा ठीकरा सरकारी स्कूलों के शिक्षकों के सिर ही क्यों फोड़ा जा रहा है? प्रद्युम्न जैसे मामले को लेकर तो अब निजी स्कूल और भी कठघरे में आ गए हैं। ऐसी स्थिति में इस तरह का कदम किस ओर ले जाएगा?

आज भी अधिकांश जगह सरकारी और गैर-सरकारी संगठनों के प्रमुखों के तौर पर शासकीय विद्यालयों से निकली पीढ़ी की कार्यरत है। फिर भी इनका निर्माण शिक्षक कहां और

किस मुकाम पर पहुंच दिया गया है, इस पर विचार-मंथन जरूरी है। लगभग संपूर्ण देश में ही शिक्षकों की संख्या कम होने के बाजवूद मानव संसाधन के विकास के प्रति हमारी बेरुखी घोर निराशा उत्पन्न करती है। हर प्रदेश में शिक्षकों की नियुक्ति, सेवा शर्तों, नियमितीकरण, स्थायीकरण और वेतन-भत्तों को लेकर आंदोलन हो रहे हैं। मानव संसाधन के निर्माताओं की चिंता किसी को नहीं! हर जगह शिक्षकों को लानतें या लाठियां मिल रही हैं। अब बताइए कि वे शिक्षा की धुरी में कहां रहे? उन पर लगभग समाप्त हो चुका विश्वास कैसे बहाल हो?

समय-समय पर शिक्षाविदों द्वारा राष्ट्र की मुख्य धुरी शिक्षा और शिक्षकों को लेकर जो सुझाव या अनुशंसाएं दी जाती रही हैं। उनका हाल क्या होता है इसका अंदाजा केवल इसी एक उदाहरण से लगाया जा सकता है जब पिछले साल अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त एक जाने-माने शिक्षाविद का दर्द सामने आया। उनकी वर्षों पूर्व की गई अनुशंसाओं को कोई तवज्जो नहीं दी गई। मामला फिर चाहे बच्चों पर बस्तों के बढ़ते बोझ का हो या संपूर्ण राष्ट्र में एक जैसी शिक्षक भर्ती का या फिर

आखिर भारतीय शिक्षा सेवा के गठन का, शिक्षाविदों की सलाह और अनुशंसाएं क्या अपने अंजाम तक पहुंच पाती हैं? यह एक यक्ष प्रश्न है। जो भी योजनाएं लाई और जागू की जाती हैं उनमें शिक्षकों के मैदानी अनुभवों को कोई तवज्जो नहीं मिलती, न ही नीतिगत फैसलों में उनकी उपलब्धियों का लाभ मिलता है।

शैक्षिक गुणवत्ता और नवाचार एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। शिक्षक, शैक्षिक गुणवत्ता की मुख्य धुरी हैं और वह तभी तक शिक्षक है जब तक वह एक शिक्षार्थी है। शिक्षार्थी ही नवाचार कर सकते हैं और शैक्षिक गुणवत्ता ला सकते हैं। नवाचार के लिए शिक्षक का न केवल मनोवैज्ञानिक तौर पर मजबूत होना जरूरी है बल्कि उसमें शैक्षिक गुणवत्ता में अभिवृद्धि के लिए भीतर से कुछ नया कर गुजरने की तथा अपने विद्यार्थियों में अधिगम को अभिरुचिपूर्ण बना कर उसे अधिकतम आनंददायी बनाने की तीव्र उत्कंठा होनी चाहिए। इसके बिना नवाचार के प्रयत्न फलीभूत नहीं होंगे। रचनात्मक प्रेरणा इस संबंध में बहुत महत्वपूर्ण और कारगर घटक होती है। सामान्यतः

इस प्रकार के प्रोत्साहन का हमारे यहां अभाव पाया जाता है।

विद्यालयों में जिस प्रकार से विद्यार्थियों की उपस्थिति गिर रही है और शिक्षा की गुणवत्ता खत्म हो रही है उससे यह स्पष्ट होता है कि शिक्षणोत्तर कार्यों से शिक्षक इतना अधिक दबाव महसूस कर रहा है कि उसके लिए नवाचार का मानव बनाना लगभग असंभव होता जा रहा है। फेल हो जाने का भय पूर्णतः समाप्त होने से विद्यार्थियों में जो उच्छृंखलता बढ़ी वह अपूर्व है। हालांकि परिपक्व नवाचारों का सृजन अभावों, संघर्षों और विपरीत परिस्थितियों में ही होता है। पर शिक्षक के लिए प्रेरक वातावरण का सृजन नहीं हो पाना निश्चित रूप से कहीं न कहीं एक प्रश्नचिन्ह पैदा अवश्य करता है। शैक्षिक गुणवत्ता और नवाचार केवल एक शैक्षिक या अधिगम प्रक्रिया नहीं है बल्कि यह प्रकल्प संपूर्ण शैक्षिक वातावरण को प्रभावित करता है। शैक्षिक गुणवत्ता में अभिवृद्धि के लिए अत्यंत आवश्यक है कि शिक्षक के 'योगक्षेम' को व्यावहारिक और सुरक्षित बनाने के साथ उसे सृजन-मनन, चिंतन, ध्यान, पर्यटन और अभिरुचि को विकसित करने के पर्याप्त अवसर उपलब्ध

में भावी पीढ़ी के लिए अपना सर्वश्रेष्ठ देने वालों की कमी नहीं है। पर शिक्षकों में शासन के बढ़ते अविश्वास, विभिन्न वर्गों के शिक्षकों के बीच वर्ग-भेद और वेतन विसंगतियों तथा शिक्षक को शिक्षणोत्तर कामों में झोंक देने से उनकी क्षमताओं पर बेहद विपरीत प्रभाव पड़ा है।

आज शिक्षक अपने मूल काम से दूर होता जा रहा है। उसका पठन-पाठन छूटता जा रहा है। इसका दोषी कौन है? माना जाता है कि जो किसी और क्षेत्र में नहीं जा पाते, वे शिक्षक बन जाते हैं। पर यह मान बैठना उन विद्वान व समर्पित शिक्षकों के मन-मस्तिष्क पर कुठाराघात और निपुणता को नई पीढ़ी को हस्तांतरित करना चाहते हैं। आज शिक्षा विभागों से संबंधित पदों को अस्वीकार कर या बेहतर समझे जाने वाले पदों को त्याग कर यहां बने हुए हैं। यहां तक कि कई आईएएस अफसरों ने भी अध्यापन को प्रशासनिक कार्यों से अधिक तरजीह दी है और अफसरों करने के बजाय शिक्षक-कर्म को अपना ध्येय बना लिया। भारत के पूर्व राष्ट्रपति एपीजे अब्दुल कलाम स्वयं को शिक्षक कहलाना अधिक पसंद करते थे। पर

पृष्ठ 1 का शेष... भारत में दलित उत्पीड़न की अन्तहा

की महिलाओं की तुलना में 14.6 साल कम है। रिपोर्ट के मुताबिक कमजोर, साफ सफाई, पानी की अपर्याप्त आपूर्ति, स्वास्थ्य सेवाओं की कमी आदि वजहों से जाति का भेद और ज्यादा गहरा जाता है।

रिपोर्ट में यह भी सामने आया कि सामान्य आर्थिक स्थिति वाले घरों में महिलाओं का 12 प्रतिशत समय पानी और जलावन का इंतजाम करने में ही निकल जाता है। जबकि गरीब व दलित महिलाओं को इसी काम में दोगुना यानि 24 प्रतिशत समय लग जाता है। यानि सामान्य वर्ग की महिलाओं की तो हालत खराब ही है, दलित महिलाओं के मामले में यह हालत और भी बुरी है।

शिक्षा में भारत में पुरुषों की साक्षरता 85 प्रतिशत है और महिलाओं की 65 प्रतिशत, पर दलित महिलाओं की शिक्षा दर इससे भी आठ प्रतिशत कम है। जानकारों के मुताबिक हिंसा, उपेक्षा, अपमान और घोर अभाव सब मिलकर दलित महिला की उम्र कम करने का अहम कारण बन जाते हैं। •

दलित प्रतिभा डा. अजय कुमार सोनकर जिसने पहली बार मनचाहा शकल का मोती बनाया

भारत के चर्चित मोती वैज्ञानिक डा. अजय कुमार सोनकर ने काला मोती बनाने की क्षमता रखने वाली सीप की नस्ल 'पिंक टाडा मार्गरेटिफेरा' सीप में पहली बार मनचाही शकल का मोती बनाने में कामयाबी हासिल की है। इस मोती को भगवान गणेश की शकल दी गई है।

पर्ल एक्वाकल्चर के क्षेत्र में भारत का नाम विश्व पटल पर लाने वाले इस युवा वैज्ञानिक ने बताया कि अंडमान के समुद्री क्षेत्र में 'ब्लैक लिप आयस्टर' यानी काला मोती बनाने की क्षमता वाले सीप पाए जाते हैं और मेरा प्रयोग था कि कैसे मोती को मनचाही शकल दी जा सकती है। ऐसा पहला मोती गणेश की शकल में है। हमने अभी तक 'पिंक टाडा मार्गरेटिफेरा' सीप में पारंपरिक काला गोलाकार मोती तो बनाया था लेकिन एक आकृति की शकल देने के लिहाज से मुझे सीपों की यह नस्ल बेहद उपयुक्त लगी क्योंकि इसका आकार बड़ा होता है और इसमें गोलाकार 'न्युक्विलयस' के स्थान पर 'न्युक्विलयस' के रूप में किसी आकृति को सीपों की सर्जरी करके उनके बदन में रखना

आसान था।

उन्होंने बताया कि पहली बार मैंने इस प्रयोग को नियंत्रित वातावरण में किया जहां समुद्र के पानी को अलग एक 'कल्चर टैंक' में इकट्ठा कर बड़े पंखों के जरिये कृत्रिम तरीके से समुद्री लहरों को पैदा किया गया। इस प्रयोग के दौरान पाया गया कि समुद्र की लहरों की दिशा व तीव्रता का सीप में पल रहे मोतियों के रंग रूप में निर्णायक योगदान होता है। यह समुद्र की गहराई, एल्गी (जिसे सीप भोजन के रूप में इस्तेमाल करती हैं) की मात्रा, तापमान से भी कहीं ज्यादा सीप के रंग रूप के निर्धारण में भूमिका अदा करती हैं। उन्होंने अपने प्रयोग के अनुभवों को साझा करते हुए कहा कि वास्तव में समुद्री सीप अपने शरीर से निकलने वाले एक धागे जैसे दिखने वाले पदार्थ की मदद से आसपास के पत्थरों से और चट्टानों के बीच की दरारों में आजीवन चिपके रहते हैं जिसके कारण समुद्री लहरें सीपों द्वारा उन्हें सुरक्षित व उपयुक्त स्थान से उन्हें हटा नहीं पाती। लेकिन इन लहरों की उनके भीतर पल रहे मोती के रंग रूप के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

करवाए जाएं। शिक्षक की एकाग्रता बढ़ाने के लिए इन सारे प्रयासों का ईमानदारी के साथ निर्वहन यथार्थ में होना आवश्यक हो गया है।

शिक्षक को अपने कर्तव्य और विद्यालयीन गतिविधियों को रोचक बनाने के लिए और अपने विद्यार्थियों के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए नित नवीन पद्धतियों को अपने अध्यापन का हिस्सा बनाना पड़ेगा। इसके लिए उसे स्थानीय जरूरतों के साथ आधुनिक समय में हो रहे बदलावों पर भी अपना ध्यान केंद्रित करना होगा ताकि शिक्षार्थी नवाचार में रुचि ले सकें और शैक्षिक गुणवत्ता हासिल की जा सके।

संपूर्ण राष्ट्र में एक जैसी शिक्षा प्रणाली, एक जैसे शिक्षालय और एक समान शिक्षकों का सपना पूरा होता नहीं लगता। हालांकि राज्य शिक्षा को प्रदेश सरकार के नियंत्रण में रखने के पीछे मुख्य उद्देश्य स्थानीय जरूरतों के अनुसार शिक्षा शिक्षा का प्रबंध करना है, फिर भी शिक्षा की मुख्य धुरी शिक्षक को अध्यापन के साथ शोध, नवाचार और अपनी अंतर्निहित प्रतिभा के उपयोग के लिए यदि प्रेरणादायक और समुचित वातावरण न मिले तो शिक्षा को मिशन समझ कर इस क्षेत्र में आने वाले युवा गहरी निराशा का शिकार होते हैं। संपूर्ण देश के शिक्षालयों

कलाम को अपना आदर्श मानकर चलने वाले हमारे कर्णधारों ने शिक्षक को दायम दर्जे का समझ कर उसे हतोत्साहित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। ऐसी दशा में शिक्षकों से उनका सर्वश्रेष्ठ दे पाने की आशा व्यर्थ है।

आज निजीकरण की आहट के बीच शिक्षक अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे हैं। सरकारी क्षेत्र में विसंगतिपूर्ण वेतन, प्रेरक सुविधाओं के अभाव और सेवानिवृत्ति के बाद भी एक विपन्न जिंदगी के भय के चलते भावी नागरिकों के लिए कुछ हट कर गुजरने का कोई भाव आज की शिक्षक पीढ़ी में प्रवाहित होते नहीं दिखता। निजी क्षेत्र तो शोषण का पर्याय बन गया है अब। इसका जिम्मेदार बहुत हद तक हमारे समाज का परिवर्तित नजरिया भी है। •

शोषित जन

शोषित जन के गीत दुःख भरे नहीं सुन रहे शासक बहरे।
समता-भाव जगें कैसे जब जाति-भेद के दाग हैं गहरे।
आदमी आस्तिक हो गये और कुछ नास्तिक हो गये।
बुद्ध की राह पर जो चले आदमी वास्तविक हो गये।

— डॉ. सुरेश उजाला